

तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव

प्रथम संस्करण : 10 हजार
(9 दिसम्बर, 2007)

लेखक

डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल
शास्त्री, न्यायतीर्थ, साहित्यरत्न, एम.ए., पीएच.डी.

प्रकाशक

पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट

ए-4, बापूनगर, जयपुर-302 015

फोन : 0141-2707458, 2705581

मूल्य : चार रुपए

लैजर टाइपसेटिंग :
त्रिमूर्ति कम्प्यूटर्स,
ए-4, बापूनगर, जयपुर

मुद्रक :
प्रिन्ट 'ओ' लैण्ड
बाईस गोदाम, जयपुर

प्रस्तुत संस्करण की कीमत कम करनेवाले दातारों की सूची

1. श्रीमती कमलप्रभा ध.प. स्व. श्रीपालजी बड़जात्या; श्रीकमल, न्यूपलासिया, इन्दौर	1100.00
2. अजितकुमार तोतूका, जयपुर	1100.00
3. श्री निहालचन्दजी जैन, जयपुर	1100.00
4. श्री दिलीपभाई : अहिंसा चैरिटेबल ट्रस्ट, मुम्बई	1100.00
5. श्री विमलकुमार नीरू केमिकल्स, दिल्ली	1100.00
6. श्री अश्विनभाई शाह, मुम्बई	1100.00
7. श्री जगनमलजी सेठी, इम्फालवाले, जयपुर	1100.00
8. श्रीमती नीतू ध.प. राजेशकुमार मनोहरलाल काला, इन्दौर	500.00
9. श्रीमती श्रीकान्ताबाई पूनमचन्दजी छाबड़ा, इन्दौर	500.00
10. श्री महावीरप्रसादजी जैन, जयपुर	500.00
11. श्री मोहनलालजी सेठी, जयपुर	500.00
12. श्री ताराचंदजी लवाण, जयपुर	500.00
13. श्री शांतिलालजी भुज अलवर वाले	500.00
14. श्री लक्ष्मीनारायणजी दादा	500.00
15. श्री दुलीचन्दजी खैरागढ़	200.00

कुल राशि : **11400.00**

प्रकाशकीय

नव वर्ष का शुभारंभ बावनगजा में तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव के महामस्तकाभिषेक महोत्सव से हो रहा है, जो गौरव का विषय है।

इस अवसर पर समाज के गौरव महामनीषी विद्वान डॉ. हुकमचन्दजी भारिल्ल की नवीनतम कृति 'तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव' का प्रकाशन करते हुए हमें हार्दिक प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है।

समाज में जब-जब कोई ऐतिहासिक प्रसंग बना है, तब-तब हमारी संस्था उसमें सहयोग करती रही है तथा तत्संबंधी साहित्य का प्रकाशन भी करती रही है।

डॉ. हुकमचन्दजी भारिल्ल द्वारा भगवान महावीर के २५सौ वें निर्वाण वर्ष में 'तीर्थंकर महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ', 'तीर्थंकर भगवान महावीर' एवं 'वीतरागी व्यक्तित्व : भगवान महावीर'; भगवान बाहुबली सहस्राब्दी महोत्सव के अवसर पर 'गोम्मटेश्वर बाहुबली : एक नया चिन्तन'; आचार्य कुन्दकुन्द वर्ष में 'आचार्य कुन्दकुन्द और उनके पंचपरमागम', 'कुन्दकुन्दशतक' एवं 'शुद्धात्मशतक' एवं शाकाहार वर्ष में 'शाकाहार : जैनदर्शन के परिप्रेक्ष्य में' जैसी पुस्तकें लिखी गई हैं।

इसके अतिरिक्त भी तत्संबंधी विपुल साहित्य का प्रकाशन इस संस्था द्वारा किया गया।

अब जब बावनगजा में भगवान आदिनाथ का महामस्तकाभिषेक समारोह आयोजित है तो डॉ. भारिल्लजी द्वारा इस अवसर पर यह 'तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव' पुस्तक का प्रणयन किया गया है।

महाकवि बनारसीदासजी का ४००वाँ जन्मदिवस भी अ.भा. जैन युवा फैडरेशन के माध्यम से देश भर में उत्साहपूर्वक मनाया गया था और उनसे संबंधित अनेक पुस्तकों का प्रकाशन भी हमारी सहयोगी संस्थाओं के द्वारा किया गया था, जिनमें पण्डित रतनचन्दजी भारिल्ल की कृति 'बनारसीदास :

जीवन और साहित्य', अध्यात्मप्रभा जैन की 'कविवर बनारसीदास : व्यक्तित्व और कर्तृत्व' तथा अखिल बंसल की 'कालजयी व्यक्तित्व : बनारसीदास' उल्लेखनीय हैं।

मथुरा में जम्बूस्वामी का मस्तकाभिषेक समारोह राष्ट्रीय स्तर पर मनाने का निर्णय लिया गया, इसे देखते हुए पण्डित रतनचन्दजी भारिल्ल की कृति 'जम्बू से जम्बू स्वामी' का प्रकाशन भी सम सामयिक कदम है।

भगवान ऋषभदेव जैनधर्म के आद्य तीर्थंकर के रूप में प्रख्यात हैं। जैन साहित्य में तो वे चर्चित रहे ही हैं, जैनेतर साहित्य में भी आपका उल्लेख बड़ी श्रद्धा के साथ किया गया है। आपके प्रथम पुत्र भरत के नाम पर इस देश का नाम भारतवर्ष पड़ा। इस बात को इतिहासकारों ने निर्विवाद रूप से स्वीकार किया है। इसीप्रकार आपके द्वितीय पुत्र बाहुबली, जिनकी दक्षिण भारत के श्रवणबेलगोला में ५७ फुट उत्तुंग मूर्ति विराजमान है, जो सभी के आस्था व श्रद्धा की केन्द्रबिन्दु है।

डॉ. भारिल्ल ने अपनी सशक्त लेखनी के माध्यम से भगवान ऋषभदेव का जो चरित्र-चित्रण इस पुस्तिका में किया है, वह पठनीय व मननीय है। इसके लिए मैं संस्था की ओर से उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ।

डॉ. भारिल्ल की साहित्य साधना अनुकरणीय है। वे दीर्घजीवी होकर हम सबके पथप्रदर्शक बने रहें हूँ ऐसी मेरी भावना है।

पुस्तक को अल्प मूल्य में जन-जन तक पहुँचाने का श्रेय दान-दातारों को है। हम सभी दातारों का आभार मानते हुए टाइप सैटिंग के लिए श्री दिनेश जैन एवं मुद्रण व्यवस्था हेतु श्री अखिल बंसल को भी धन्यवाद देते हैं।

आप सभी इस कृति के माध्यम से अपने जीवन को सार्थक कर मुक्तिमार्ग की ओर अग्रसर हों हूँ इसी पवित्र भावना के साथ हूँ

30 नवम्बर, 2007

ब्र. यशपाल जैन, एम.ए.

प्रकाशन मंत्री, पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर

लेखक के महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

समयसार (ज्ञायकभाव प्रबोधिनी)	५०.००	मैं कौन हूँ	५.००
समयसार अनुशीलन भाग-१	२५.००	निमित्तोपादान	४.००
समयसार अनुशीलन भाग-२	२०.००	अहिंसा : महावीर की दृष्टि में	३.००
समयसार अनुशीलन भाग-३	२०.००	मैं स्वयं भगवान हूँ	४.००
समयसार अनुशीलन भाग-४	२०.००	तीर्थकर भगवान ऋषभदेव	४.००
समयसार अनुशीलन भाग-५	२५.००	रीति-नीति	३.००
समयसार का सार	३५.००	शाकाहार	२.५०
प्रवचनसार (ज्ञानज्ञेयतत्त्वप्रबोधिनी)	५०.००	तीर्थकर भगवान महावीर	२.५०
प्रवचनसार का सार	३०.००	चैतन्य चमत्कार	४.००
प्रवचनसार अनुशीलन भाग-१	३५.००	गोली का जवाब गाली से भी नहीं	२.००
प्रवचनसार अनुशीलन भाग-२	३५.००	गोम्मटेश्वर बाहुबली	२.००
पं. टोडरमल व्यक्तित्व और कर्तृत्व	२०.००	वीतरागी व्यक्तित्व : भगवान महावीर	२.००
परमभावप्रकाशक नयचक्र	२०.००	अनेकान्त और स्याद्वाद	२.००
चिन्तन की गहराइयाँ	२०.००	शाश्वत तीर्थधाम सम्मदशिखर	१.५०
तीर्थ, महावीर और उनका सर्वो. तीर्थ	१५.००	बिन्दु में सिन्धु	२.५०
धर्म के दशलक्षण	१६.००	बारह भावना एवं जिनेंद्र वंदना	२.००
क्रमबद्धपर्याय	१५.००	कुंदकुंदशतक पद्यानुवाद	२.००
बिखरे मोती	१६.००	शुद्धात्मशतक पद्यानुवाद	१.००
सत्य की खोज	१६.००	समयसार पद्यानुवाद	३.००
अध्यात्मनवनीत	१५.००	योगसार पद्यानुवाद	०.५०
आप कुछ भी कहो	१०.००	समयसार कलश पद्यानुवाद	३.००
आत्मा ही है शरण	१५.००	प्रवचनसार पद्यानुवाद	३.००
सुक्ति-सुधा	१८.००	द्रव्यसंग्रह पद्यानुवाद	१.००
बारह भावना : एक अनुशीलन	१५.००	अष्टपाहुड़ पद्यानुवाद	३.००
दृष्टि का विषय	१०.००	अर्चना जेबी	१.००
गागर में सागर	७.००	कुंदकुंदशतक (अर्थ सहित)	१.२५
पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव	१०.००	शुद्धात्मशतक (अर्थ सहित)	१.००
णमोकार महामंत्र : एक अनुशीलन	१०.००	बालबोध पाठमाला भाग-२	३.००
रक्षाबन्धन और दीपावली	५.००	बालबोध पाठमाला भाग-३	३.००
आ. कुंदकुंद और उनके पंचपरमागम	५.००	वीतराग-विज्ञान पाठमाला भाग-१	४.००
युगपुरुष कानजीस्वामी	५.००	वीतराग-विज्ञान पाठमाला भाग-२	४.००
वीतराग-विज्ञान प्रशिक्षण निर्देशिका	१२.००	वीतराग-विज्ञान पाठमाला भाग-३	४.००
पश्चात्ताप	७.००	तत्त्वज्ञान पाठमाला भाग-१	५.००
		तत्त्वज्ञान पाठमाला भाग-२	६.००

तीर्थकर भगवान ऋषभदेव

मंगलाचरण

(हरिगीत)

हे वृषभ से कर्मठ ऋषभ नृप कर्मयुग की आदि में ।
शिक्षित किया असि मसी कृषि विद्या वनिज शिल्पादि में ॥
फिर ऋषी होकर हे ऋषीश्वर आत्मा में लीन हो ।
तुम वीतरागी हुए ज्ञानानन्द में लवलीन हो ॥१॥
सब जगत के मर्मज्ञ जिन दृग्ज्ञानमय संयम सहित ।
शिव शान्त आतम ध्यानमय तुमने बताया मुक्तिमग ॥
उस मुक्तिमग पर जो चलें या चलेंगे युग-युगों तक ।
वे भवजलधि से पार होंगे भव्यजन युग-युगों तक ॥२॥
आपका जीवन चरित प्रभु गगन सम गंभीर है ।
जलनिधि समान अपार एवं भवजलधि का तीर है ॥
गणधर न पावे पार फिर भी भक्ति वश आवेश में ।
सामान्य जन के लिए प्रस्तुत कर रहा संक्षेप में ॥३॥

भारतवर्ष के मध्यप्रदेश में स्थित चूलगिरी नाम से प्रख्यात सतपुड़ा नामक पर्वत की सबसे ऊँची चोटी के एक प्रस्तर खण्ड में उत्कीर्ण बावनगजा नाम से प्रसिद्ध 1008 तीर्थकर भगवान ऋषभदेव के 1008 ईच के प्राचीनतम खड्गासन विशाल जिनबिंब के दर्शन कर चित्त में अपार आनन्द और अद्भुत शान्ति का अनुभव होता है ।

जिन दिव्य महापुरुष की यह प्रशान्त मूर्ति है; वे भगवान ऋषभदेव इस अवसर्पिणी काल में होनेवाले 24 तीर्थकरों में प्रथम तीर्थकर हैं ।



प्रत्येक आत्मा को परमात्मा घोषित करनेवाला जैनदर्शन यद्यपि अनादि-अनंत है; तथापि इस युग में कर्मभूमि के आरंभ होने पर सबसे पहले भगवान ऋषभदेव ने ही अनेकान्तवादी जैनदर्शन को इस जगत के समक्ष प्रस्तुत किया था। यही कारण है कि इन्हें आदिनाथ भी कहा जाता है।

तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव का जीवन चरित्र यद्यपि मुख्यरूप से जैन पुराणों में उपलब्ध होता है; तथापि मोहनजोदड़ों के खंडहरों में प्राप्त ऋषभ की कायोत्सर्ग मुद्रा ने इतिहासकारों को प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव के बारे में सोचने के लिए बाध्य कर दिया है।

इस संबंध में प्रसिद्ध ऐतिहासिक विद्वान् एवं राष्ट्रकवि रामधारीसिंह 'दिनकर' लिखते हैं ह

“मोहनजोदड़ों की खुदाई में योग के प्रमाण मिले हैं और जैनमार्ग के आदि तीर्थंकर जो श्री ऋषभदेव थे, जिनके साथ योग और वैराग्य की परम्परा उसीप्रकार लिपटी हुई है जैसे शक्ति कालान्तर में शिव के साथ समन्वित हो गई। इस दृष्टि से कई जैन विद्वानों का यह मानना अयुक्तियुक्त नहीं है कि ऋषभदेव वेदोल्लिखित होने पर भी वेदपूर्व हैं।¹”

जैनधर्म और तीर्थंकर परम्परा की प्राचीनता को वैदिक संस्कृति के प्राचीनतम ग्रन्थ वेदों और वैदिक पुराणों में प्राप्त कतिपय उल्लेखों ने स्पष्ट कर दिया है।

इस संदर्भ में प्रसिद्ध दार्शनिक विद्वान् राष्ट्रपति डॉ. राधाकृष्णन् का निम्नलिखित कथन उल्लेखनीय है ह

“इस बात के प्रमाण पाये जाते हैं कि ईसवी पूर्व प्रथम शताब्दी में प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव की पूजा होती थी। इसमें कोई संदेह नहीं है कि

1. आजकल, मार्च 1992 पृष्ठ 8 (जै.मौ.इ.ती., पृष्ठ 60)

जैनधर्म वर्द्धमान और पार्श्वनाथ से भी पहले प्रचलित था।

यजुर्वेद में ऋषभदेव, अजितनाथ और अरिष्टनेमि इन तीन तीर्थंकरों के नामों का निर्देश है। भागवत पुराण भी इस बात का समर्थन करता है कि ऋषभदेव जैनधर्म के संस्थापक थे।¹”



प्रो. विरूपाक्ष वाडियर वेदों में जैन तीर्थंकर के उल्लेखों का कारण प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं ह

“प्रकृतिवादी मारीचि ऋषभदेव का पारिवारिक था। मारीचि ऋषि के स्तोत्र वेद-पुराण आदि ग्रन्थों में हैं और स्थान-स्थान पर जैन तीर्थंकरों का उल्लेख पाया जाता है। कोई ऐसा कारण नहीं कि हम वैदिक काल में जैनधर्म का अस्तित्व न मानें।²”

भागवतपुराण में ऋषभदेव का उल्लेख बड़े ही सम्मान के साथ हुआ है ह

“ऋषभदेव ने पृथ्वी का पालन करने के लिए भरत को राजगद्दी पर बिठाया और स्वयं उपशमशील, निवृत्ति-परायण महामुनियों के भक्ति, ज्ञान और वैराग्य रूप परमहंसोचित धर्म की शिक्षा देने के लिए बिलकुल विरक्त हो गये। केवल शरीर मात्र का परिग्रह रखा।³”

डॉ. बुद्धप्रकाश, डी. लिट्. ने अपने ग्रंथ 'भारतीय धर्म एवं संस्कृति' में लिखा है ह

“महाभारत में विष्णु के सहस्र नामों में श्रेयांस, अनंत, धर्म, शान्ति

1. Indian Philosophy, Vol. P. 287

2. महावीर जयन्ती स्मारिका 1964, पृष्ठ 42

3. श्रीमद्भागवत, 5/5/28 (जै.मौ.इ.ती. पृष्ठ 59)

और संभव नाम आते हैं और शिव के नामों में ऋषभ, अजित, अनन्त और धर्म मिलते हैं। विष्णु और शिव दोनों का एक नाम सुव्रत दिया गया है। ये सब नाम तीर्थंकरों के हैं। लगता है कि महाभारत के समन्वयपूर्ण वातावरण में तीर्थंकरों को विष्णु और शिव के रूप में सिद्ध कर धार्मिक एकता स्थापित करने का प्रयत्न किया गया। इससे तीर्थंकरों की परम्परा प्राचीन सिद्ध होती है।¹”

मेजर-जनरल जे.सी. आर. फर्लांग ने अपनी पुस्तक ‘The Short Study in Science of Comparative Religion’ में लिखा है ह

“ईसा से अगणित वर्ष पहले से जैनधर्म भारत में फैला हुआ था। आर्य लोग जब मध्यभारत में आये तब यहाँ जैन लोग मौजूद थे।²”

लोकप्रसिद्ध इतिहासकारों के उक्त कथनों से भी यह प्रमाणित होता है कि भगवान ऋषभदेव जैनदर्शन के प्रबल प्रचारक जैन तीर्थंकरों में प्रथम तीर्थंकर थे।

प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव का जन्म अयोध्या नगरी में वहाँ के राजा चौदहवें कुलकर नाभिराय की रानी मरुदेवी के गर्भ से हुआ था।

वे जन्म से ही विलक्षण प्रतिभा के धनी इक्ष्वाकुवंशी राजकुमार थे। नाभिराय के बाद वे राजगद्दी पर बैठे। उन्होंने अपने राज्यकाल में अनेक जनोपयोगी कार्यों के साथ-साथ प्रजा को असि, मसि, कृषि, विद्या, वाणिज्य और शिल्प ह्व इन षट्कर्मों से आजीविका करना सिखाया³; क्योंकि उस समय भोगभूमि समाप्त हो जाने से कल्पवृक्षों के अभाव हो जाने से आजीविका सहज न रह गई थी। आजीविका श्रमसाध्य हो जाने से संघर्ष की स्थिति टालने के लिए व्यवस्था आवश्यक हो गई थी।

1. तीर्थंकर वर्द्धमान, पृष्ठ 15

2. जैनधर्म, पृष्ठ 11

3. प्रजापति र्यः प्रथमं जिजीविषुः शशास कृष्यादिसु कर्मसु प्रजाः ॥

ह्व स्वयभूस्तोत्र : आ. समन्तभद्र

कर्मभूमि के आरंभ होने से तत्संबंधी समस्त व्यवस्था आरंभ में राजा ऋषभदेव के द्वारा स्थापित हुई। यही कारण है कि उन्हें प्रजापति, ब्रह्मा, विधाता, आदिपुरुष आदि नामों से भी पुकारा गया है।



जब राजकुमार ऋषभदेव युवावस्था को प्राप्त हुए तो उनके माता-पिता को उनके विवाह करने का विकल्प आया। वे सोचने लगे कि ऋषभ तो एकदम आध्यात्मिक प्रकृति के युवक हैं, रागरंग में उनका मन लगता ही नहीं है, वे तो निरन्तर आत्मचिन्तन में ही रत रहते हैं। उन्हें विवाह करने के लिए राजी करना आसान बात नहीं है। लगता तो ऐसा है कि वे शादी करेंगे ही नहीं। फिर भी हमारा कर्तव्य तो यही है कि हम उन्हें शादी करने के लिए प्रेरित करें, उनके योग्य वधू की तलाश करें; फिर जो होना होगा, होगा तो वही।

महाराजा नाभिराय और महारानी मरुदेवी ने परस्पर विचार-विमर्श करके राजकुमार ऋषभदेव से शादी करने के संदर्भ में चर्चा करने का निश्चय किया।

नाभिराय बोले ह्व “ऋषभ बहुत ही बुद्धिमान और विवेकी राजकुमार हैं। उनसे तर्क-वितर्क में जीतना तो आसान नहीं है, फिर भी हमें उन युक्तियों पर विचार कर लेना चाहिए, जिनके आधार पर उन्हें शादी करने के लिए राजी किया जा सके।”

महारानी मरुदेवी बोलीं ह्व “तुम्हारे तर्क-वितर्क से कुछ भी होनेवाला नहीं है, उनके हृदय को तो भावुकता से ही मोड़ा जा सकेगा।

हजारों तर्क-वितर्क जहाँ निष्फल हो जाते हैं, हृदय को पिघला देनेवाली भावनाओं का उद्वेग वहाँ भी रास्ता निकाल लेता है। अतः मैं तो उन्हें भावना के वेग में ही बहाऊँगी। मुझे विश्वास है कि मेरी आन्तरिक भावना अवश्य सफल होगी। माँ की ममता को कौन ठुकरा सकता है?’

“बात तो तुम ठीक ही कहती हो, क्योंकि नारियों की सबसे बड़ी शक्ति ही भावावेग है; पर तुम यह क्यों भूल जाती हो कि भावावेग का यह शस्त्र भी रागियों पर ही चलता है, वैरागियों पर नहीं।

यदि वैरागी भी इससे परास्त होने लगते तो अब तक कोई दीक्षा ही न ले पाता; क्योंकि इस शस्त्र का प्रयोग तो प्रत्येक माँ करती है, पत्नियाँ भी करती हैं; पर असली वैरागी को तो आज तक न तो कोई माँ रोक सकी है और न कोई पत्नी।

विवेकी वैरागियों पर न तर्क का वश चलता है और न वे भावनाओं के वेग में ही बहते हैं। अतः ऋषभ पर न तो तुम्हारी भावनाओं का असर होना है और न तेरे तर्कों का।”

“तुम तो हमेशा निराशा की ही बात करते हो। कुछ भी हो, हमें समझाना तो होगा ही, बात तो करनी ही होगी। हो सकता है, वह हमारी बात मान ही ले, हमारे दिल को न तोड़े।”

“बात तो करनी ही है; क्योंकि यह हमारा कर्तव्य भी है कि हम उसके विवाह की व्यवस्था करें और तदर्थ प्रयत्नपूर्वक उसे राजी करें।

प्रत्येक माँ-बाप का यह कर्तव्य है कि वह अपनी संतान की समुचित शिक्षा-दीक्षा के बाद उसकी शादी करें, उसे गृहस्थधर्म में नियोजित करें।

हमें भी अपने इस कर्तव्य का पालन करना ही है, पर व्यर्थ की कल्पनाओं के पुल बाँधना अच्छा नहीं है; क्योंकि यदि वह शादी के लिए

राजी न हुआ तो फिर हमें अधिक संक्लेश होगा। अतः सहजभाव से ही अपने कर्तव्य का पालन करना चाहिए।”

“तुम तो पहले से ही यह मानकर चल रहे हो कि ऋषभ शादी के लिए राजी होगा ही नहीं, तो फिर तुम जोर भी कैसे दोगे? तुम्हें अपने तर्कों पर भरोसा ही नहीं है; जिसे अपने शस्त्रों पर ही भरोसा न हो, उसकी हार तो निश्चित ही है।”

“तुम्हें तो अपने हथियार पर पूरा भरोसा है न? युद्ध के मैदान में मैं अकेला थोड़े ही जा रहा हूँ, तुम भी तो हो साथ में; यदि मैं हार भी गया तो क्या होता है, तुम्हारे विश्वास के अनुसार तुम तो जीतोगी ही। तुम जीती तो मैं भी जीता; क्योंकि हमारी-तुम्हारी जीत-हार कोई अलग-अलग थोड़े ही है।”

“तुम्हारे तर्क से तो मैं जीत नहीं सकती, पर अब चलो भी; जो होगा सो देखा जायेगा। पुत्र से क्या जीतना और क्या हारना? पुत्रों से जीतने में तो जीत है ही, हारने में भी जीत ही है, यहाँ तो जीत ही जीत है, हार है ही नहीं; निराश मत होओ, चलो, जल्दी चलो।”

“इतनी जल्दी भी क्या है, मुझे अपने तर्क-वितर्क को व्यवस्थित कर लेने दो; मैं भी आसानी से हार माननेवाला नहीं हूँ। अन्त में जो भी हो, पर मैं अपनी बात पूरी शक्ति से तो रखूँगा ही।”

“जाने भी दो, क्यों श्रम करते हो, अन्त में तो मेरे आँसू ही काम आयेंगे।”

“हाँ भाई, चलो। पर यह याद रखना कि जिसके पास विवेक की ढाल है, उस पर तर्क के तीर काम नहीं करते और जिसके पास वैराग्य का बल है, उस पर आँसुओं की बौछारों का कोई असर नहीं होता। हमारा ऋषभ विवेक का धनी है और वैराग्य के बल से भी सुसज्जित है।”

इसप्रकार वे दोनों जने हार-जीत की शंका-आशंकाओं में डूबते-

उतराते ऋषभ के कक्ष की ओर जा ही रहे थे कि देखते हैं कि राजकुमार ऋषभ तो इधर ही आ रहे हैं।

“आओ, पुत्र ऋषभ! हम तुम्हारे पास ही आ रहे थे। एक बहुत जरूरी बात करनी है।”

“आज्ञा दीजिए तात। आपकी प्रसन्नता के लिए मुझे क्या करना है?”

“यहाँ खड़े-खड़े बात थोड़े ही होगी, बड़ी ही गंभीर बात है। लम्बे विचार-विमर्श की जरूरत है, चलो तुम्हारे कक्ष में बैठकर शान्ति से बात करेंगे।”

“चलिए, आगे आप चलिये।”

इसप्रकार वे सभी राजकुमार ऋषभ के कक्ष में जा पहुँचे और लम्बी भूमिका बाँधते हुए नाभिराय समझाने लगे ह

“बेटा अब तुम जवान हो गये हो, सब प्रकार से सुयोग्य हो; हम जानते हैं कि तुम्हें इस संसार में कोई रस नहीं है, तुम तो आत्मा में लीन होना चाहते हो; पर यह सब तो गृहस्थी में भी हो सकता है, गृहस्थ भी एक धर्म है; हमारी कामना है कि अब तुम गृहस्थ धर्म में प्रवेश करो।”

नाभिराय ने बड़ी चतुराई से अपनी बात रखी थी। वे जानते थे कि शादी की बात से ऋषभ का चित्त बातचीत से ही विरक्त हो जायेगा। ऋषभ की धर्मरुचि देखकर उन्होंने शादी की बात भी ‘गृहस्थ धर्म में प्रवेश करो’ ह इस भाषा में रखी थी। पर ऋषभ जैसे प्रज्ञा के धनी राजकुमार को उनके अभिप्राय को समझते देर न लगी, पर वे कुछ बोले नहीं।

अपनी बात को आगे बढ़ाते हुए नाभिराय आगे कहने लगे ह

“तुम्हारी माँ की कामना तो तुम्हें पूर्ण करनी ही होगी। हमने तुम्हारे

लिए एक से एक सुन्दर अनेक कन्याएँ देखी हैं। बस तुम्हारी हाँ करने की देर है।”

“ठीक है, जैसी आपकी इच्छा” ह कहते हुए ऋषभदेव बाहर चले गये।

इतनी आसानी से ऋषभ की ‘हाँ’ सुनकर नाभिराय और मरुदेवी चकित रह गये। माँ मरुदेवी कहने लगी ह

“हम तो सोचते थे कि उसे यह बात स्वीकृत कराने में दाँत-पसीना एक करना होगा, पर यहाँ तो कुछ करना ही न पड़ा; मानो वह हमारे प्रस्ताव की प्रतीक्षा ही कर रहा था। हमने इतने दिनों से कोई औपचारिक बात क्यों नहीं की, हमें तो बहुत पहले यह प्रस्ताव करना था। उसने तो औपचारिक ‘ना’ भी नहीं कही। उसके ऊपरी वैराग्य को देखकर हम तो यह समझने लगे थे कि यह तो शादी करेगा ही नहीं, पर.....।”

बीच में ही टोकते हुए नाभिराय बोले ह

“तुम समझती तो हो नहीं, महापुरुषों की वृत्ति और प्रवृत्ति अत्यन्त सरल और सहज होती है। वे मनाने और मनवाने में विश्वास नहीं करते। वे नकली ‘हाँ’ और ‘ना’ नहीं करते। ‘मन में हो और मूँढ हिलावे’ वाली प्रवृत्ति उनकी नहीं होती।

यदि ऋषभ ने औपचारिक भी ‘ना’ नहीं की तो इसका तात्पर्य यह नहीं है कि वे हमारे प्रस्ताव की प्रतीक्षा कर रहे थे।

इसीप्रकार उनकी तत्त्वरुचि और वैराग्य भी ऊपरी नहीं है, गृहस्थ की भूमिकानुसार ही हैं।

गृहस्थ धर्म में ऐसा ही होता है, अंतरंग रुचि भी रहती है, उचित वैराग्य भी रहता है और भूमिकानुसार राग भी होता ही है।

उनकी यह वृत्ति और प्रवृत्ति तो उनके योग्य ही है, हमने ही उन्हें

समझने में भूल की थी। लोक में ऐसा बहुत होता है कि सहज तत्त्वरुचि एवं समुचित वैराग्य को देखकर लोग उनसे अधिक अपेक्षा करने लगते हैं, पर जब वैसा नहीं देखते हैं, तो रुचि और वैराग्य को ऊपरी मानने लगते हैं। महापुरुषों के मन को जानने के लिए भी उन जैसा ही सूक्ष्म मन चाहिए।

देखो, नाभिराय की यह बात कितनी वजनदार है; क्योंकि अभी तो ऋषभदेव को 63 लाख पूर्व तक गृहस्थी में रहना है; राजकाज संभालना है; अभी से उनके दीक्षित होने की कल्पना उनके वर्तमान मानस का सही आकलन नहीं था। तात्पर्य यह है कि गृहस्थी में रहकर भी ऋषभदेव जैसी तत्त्वरुचि और वैराग्य संभव है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि राजकुमार ऋषभदेव ने विवाह भी किया था, उनकी दो रानियाँ (पत्नियाँ) थीं ह यशस्वती और सुनन्दा। यशस्वती का दूसरा नाम नन्दा भी था। राजा ऋषभदेव के 101 पुत्र और 2 पुत्रियाँ थीं। रानी यशस्वती से भरतादि सौ पुत्र और ब्राह्मी नामक पुत्री एवं सुनन्दा से बाहुबली नामक पुत्र एवं सुन्दरी नामक पुत्री उत्पन्न हुई थीं।

एक ओर जहाँ उन्होंने अपने भरतादि पुत्रों को युद्ध आदि कठोर विद्याओं में पारंगत किया; वहाँ ब्राह्मी और सुन्दरी बेटियों को क्रमशः अक्षर एवं अंक विद्या सिखाई।

प्राचीन शिलालेखों की लिपि को आज भी ब्राह्मी लिपि कहा जाता है। इसका कारण ऋषभदेव द्वारा उक्त विद्या को सर्वप्रथम ब्राह्मी नामक बेटे को सिखाना ही था। उसी के नाम से लिपि का नाम ब्राह्मी लिपि चल पड़ा। ब्राह्मी लिपि के संदर्भ में राष्ट्रकवि डॉ. रामधारी सिंह दिनकर ने लिखा है ह

“द्राविड़ भाषाओं की सभी लिपियाँ ब्राह्मी से निकली हैं। दक्षिण

भारत में प्रचलित जैन परम्परा के अनुसार ब्राह्मी ऋषभदेव की बड़ी पुत्री थी। ऋषभदेव ने ही अठारह प्रकार की लिपियों का आविष्कार किया, जिनमें से एक लिपि कन्नड़ हुई।¹”

यद्यपि विद्या शब्द बहुत व्यापक है, विद्याध्ययन के क्षेत्र में अक्षर और अंक विद्या के अतिरिक्त अनेक विद्याएँ आ जाती हैं; तथापि आज विद्याध्ययन से अंक और अक्षर विद्या के माध्यम से सीखी जाने वाली विद्याएँ ही ली जाती हैं। इनको जानने वाले को ही आज शिक्षित कहा जाता है। इनको न जानने वाला इनके अतिरिक्त अन्य अनेक विद्याओं में निपुण हो, फिर भी उसे अशिक्षित ही कहा जायेगा। शिक्षा का अर्थ ही अंक विद्या और अक्षर विद्या हो गया है।

ऋषभदेव ने अपनी पुत्रियों को ही सर्वप्रथम उक्त विद्याएँ सिखाईं। उक्त तथ्य से जैनधर्म का दृष्टिकोण नारी शिक्षा के प्रति क्या है, स्पष्ट हो जाता है।

हमारे दुर्भाग्य से बीच का कुछ समय ऐसा आया, जिसमें हमारी माँ-बहिनों को शिक्षा से वंचित रखा गया और कहा गया कि महिलाओं को पढ़ने-लिखने की क्या आवश्यकता है? महिलाओं की शिक्षा का विरोध करनेवालों को इस तथ्य की ओर विशेष ध्यान देना चाहिए।

कहा जाता है कि राजा ऋषभदेव अपनी दार्याँ जंघा पर ब्राह्मी को और बायाँ जंघा पर सुन्दरी को बिठाकर एक साथ उन्हें अक्षरविद्या और अंकविद्या का शिक्षण देते थे। यही कारण है कि अक्षरविद्या तो बाईं से दाईं ओर लिखी जाती है और अंकविद्या ऊपर से नीचे की ओर लिखी जाती है; क्योंकि बायें हाथ से ऊपर से नीचे की ओर लिखना ही सुविधाजनक रहता है।

1. संस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ 44

कर्मभूमि की सभी विद्याओं के मूलजनक राजा ऋषभदेव ही हैं। यदि वे युवावस्था के आरम्भ में ही दीक्षित हो जाते तो इन विद्याओं और कलाओं का विकास कैसे होता? वस्तुतः तीर्थकर ऋषभदेव तीर्थ प्रवर्तक होने के साथ-साथ युग प्रवर्तक भी हैं; हमें यह बात भी नहीं भूलनी चाहिए।

वह समय युग की आदि का समय था, कर्मभूमि आरम्भ ही हुई थीं। लोगों को कर्मभूमि की व्यवस्था का कुछ भी ज्ञान नहीं था। कल्पवृक्ष समाप्त हो गये थे। खान-पान की व्यवस्था श्रम साध्य हो गई थी। लोगों को अनाज उगाने और खाना पकाने की विधि भी ज्ञात न थी। यह सब रूपरेखा भी ऋषभदेव को ही व्यवस्थित करनी थी। अतः उनका लम्बे समय तक राजकाज संभालना युग की आवश्यकता थी।

इक्षुरस निकालने की विधि और उसके उपयोग के लाभ सर्वप्रथम उन्होंने ने बताये थे। यही कारण है कि उनके वंश को इक्ष्वाकुवंश कहा जाता है।

कर्मभूमि के आद्य सूत्रधार वे ही थे। उनका जीवन और उनके द्वारा की गई व्यवस्था हमारे गृहस्थ जीवन का मूल आधार है। उनके जीवन में हमें वे सभी उपादान प्राप्त हो सकते हैं; जो हमारे गृहस्थ जीवन को सुव्यवस्थित बना सकते हैं।

उनका जीवन हम सबके लिए एक आदर्श जीवन है। हमें अपने जीवन को उनके जीवन के अनुसार व्यवस्थित करना चाहिए।

एक दिन (चैत्र कृष्ण नवमी) राजा ऋषभदेव सैंकड़ों राजाओं से घिरे राजसिंहासन पर आरूढ़ थे एवं सर्वांग-सुन्दरी अप्सरा नीलांजना का नृत्य चल रहा था। उसके मनोहारी नृत्य को देखकर ऋषभदेव सहित समस्त सभासद मुग्ध हो रहे थे, तभी अचानक देवांगना की आयु समाप्त हो गई। उसके दिवंगत होते ही इन्द्र ने तत्काल उसी के सदृश अन्य देवांगना का नृत्य प्रारंभ करा दिया।



यद्यपि यह सब इन्द्र ने इतनी शीघ्रता एवं चतुराई से किया था कि किसी को पता भी न चला, किन्तु यह सब सूक्ष्मदर्शी राजा ऋषभदेव की दृष्टि से ओझल न रह सका। संसार की नश्वरता ख्याल में आते ही उनका रंग-राग का रस फीका पड़ गया और वे वैराग्य के रंग में सराबोर हो गये। उन्होंने दिगम्बरी दीक्षा लेने का संकल्प किया।

उनके वैराग्य का कारण नीलांजना की मौत नहीं थी; अपितु जगत की नश्वरता के साथ-साथ उसकी यह निष्ठुरता थी। मौतें तो उन्होंने अनेक देखी होंगी। अनित्यादि भावनाओं के चिन्तन में पर्याय की क्षणभंगुरता भी उनके ज्ञान-ध्यान में प्रतिदिन आती थी। मौत उनके लिए अनजानी और अबूझ नहीं थी। किसी की मृत्यु को देखकर वैराग्य होता तो 83 लाख पूर्व में कभी का हो गया होता।

यह जगत कितना निष्ठुर है कि जो देवांगना मौत की कीमत पर इसका मनोरंजन कर रही थी; उसकी मृत्यु हो जाने पर यह अपने मनोरंजन के कार्यक्रम को एक दिन भी नहीं छोड़ सकता। इससे अधिक निष्ठुरता की

बात और क्या हो सकती है ? जगत की इस निष्ठुरता ने उनके कोमल हृदय को झकझोर दिया था ।

भाई, वैराग्य तो अन्तर की योग्यता पकने पर होता है; काललब्धि आने पर होता है । अन्तर की योग्यता पक जावे और काललब्धि आ जावे तो चाहे जिस निमित्त से वैराग्य हो सकता है । अपने सफेद बाल देखकर भी हो सकता है । न होता हो तो सम्पूर्ण बाल झड़ जावें, तब भी नहीं होता है ।

यह जानकर लोकान्तिक देव उपस्थित हुए और उन्होंने भगवान के इस पवित्र विचार की भरपूर अनुमोदना की ।

यद्यपि परिजन और पुरजनों ने बहुत अनुनय-विनयपूर्वक आग्रह किया, पर दृढ़-मनस्वी ऋषभदेव को उनके सत्संकल्प से कोई विचलित न कर सका ।

अन्ततोगत्वा भरत को अयोध्या का और बाहुबली को पोदनपुर का



राज्य दे, सिद्धों को नमस्कार कर, राजा ऋषभदेव मुनिराज हो गये ।

उनके साथ कच्छादि चार हजार राजाओं ने भी दिगम्बरी दीक्षा धारण कर ली । साथी राजाओं को अन्तर की पकड़ तो थी नहीं, वे तो उनके साथ

भावुकतावश देखादेखी दीक्षित हो गये थे ।

मुनिराज ऋषभदेव तो ध्यानस्थ हुए तो छह माह तक ध्यान में ही खड़े रहे; परन्तु जिन राजाओं ने ऋषभदेव के साथ दीक्षा ली थी, वे

मुनिचर्या से पूर्णतः अनभिज्ञ थे; उन्होंने तो ऋषभदेव के भरोसे ही दीक्षा ली थी कि जैसा जो ऋषभदेव करेंगे, वैसा ही हम भी करेंगे ।

ऋषभदेव के मौन खड़े रहने के कारण वे किंकर्तव्यविमूढ़ हो गये । उनकी समझ में ही कुछ नहीं आ रहा था कि क्या करें और क्या न करें ? भूख-प्यास सही नहीं जाती थी । आहार लेने की विधि से भी अपरिचित थे । अतः वन में सहजता से प्राप्त कंद-मूल खाने लगे ।

उनके इस धर्म विरुद्ध आचरण को देखकर इन्द्र को चिंता हुई कि इस तरह तो युग की आदि में ही मुनिधर्म बदनाम हो जावेगा । अतः इन्द्र ने आकर उन्हें डाँटा-फटकारा तो वे कहने लगे कि हम क्या करें, हम तो कुछ जानते नहीं है और ऋषभदेव मौन धारण किए हुए हैं । यदि मुनिधर्म छोड़कर घर वापिस जाते हैं तो सम्राट भरत से प्रताड़ना मिलेगी । अतः हम कुछ भी निश्चय नहीं कर पा रहे हैं । अब आप ही बताइये कि हम क्या करें ? हम तो वही करेंगे, जो आप बतावेंगे ।

उनकी इस दीन-हीन किंकर्तव्यविमूढ़ दशा देखकर इन्द्र ने कहा कि तुम यह निर्ग्रन्थ वेश छोड़ दो, फिर चाहे जो करो; क्योंकि निर्ग्रन्थ दशा में इसप्रकार की प्रवृत्तियाँ धर्म को बदनाम करती हैं ।

इन्द्र की यह बात सुनकर उन्होंने वल्कलादि धारण कर लिए और कन्द-मूलादि भक्षण कर अपना जीवन बिताने लगे ।

यहाँ एक प्रश्न उपस्थित होता है कि मुनिराज ऋषभदेव ने ऐसा क्यों किया ? या तो उन्हें अपने साथ दीक्षित नहीं होने देना था या फिर उन्हें सम्पूर्ण मुनिचर्या और उसके विधि-विधान को विधिवत् समझाना था, उनका आचार्यत्व करना था । उनको इसप्रकार साथ लेकर मंझधार में छोड़ देना तो समझदारी का काम नहीं है ।

उन राजाओं की तो गलती है ही, पर वे तो अज्ञान थे; अतः उनसे

गलती हो जाना तो स्वाभाविक ही था; पर ऋषभदेव तो सब समझते थे, उन्होंने अपनी जिम्मेदारी क्यों नहीं निभाई ?

अरे भाई, वे ऋषभदेव से अनुमति लेकर थोड़े ही दीक्षित हुए थे। तीर्थंकरों का तो नियम है कि वे स्वयं दीक्षित होते हैं, किसी से दीक्षा नहीं लेते, किसी को दीक्षा देते भी नहीं हैं। वे तो दीक्षा लेते ही जीवन भर के लिए मौन धारण कर लेते हैं। वे किसी को साथ नहीं रखते, वे तो एकल-विहारी ही होते हैं। वे आचार्यत्व भी नहीं करते। वे मुनिदशा में किन्हीं दूसरों का बोझ नहीं उठाते।

केवलज्ञान होने के बाद उनकी दिव्यध्वनि अवश्य खिरती है, पर वे छद्मस्थ मुनिदशा में नहीं बोलते। दिव्यध्वनि भी सहज खिरती है, सर्वांग से खिरती है, मुँह से तो तब भी एक शब्द नहीं निकलता।

जीवनभर के मौनव्रती ऋषभदेव उन्हें क्या समझाते, क्यों समझाते, कैसे समझाते ?

बिना कुछ सोचे-विचारे, मात्र देखा-देखी दीक्षा लेने वाले चार हजार राजाओं की दुर्दशा देखकर यह स्पष्ट हो जाता है कि बिना सम्यग्दर्शन-ज्ञान के चारित्र धारण करनेवालों की क्या स्थिति होती है ?

इसप्रकार सद्धर्म एवं सदसाधुओं के साथ कुधर्म और कुसाधुता का भी आरंभ हो गया। भोगभूमि में तो सभी जीव मरकर देव ही होते थे, किन्तु कर्मभूमि के आरंभ होते ही जहाँ मुक्ति का मार्ग आरंभ हुआ; वहीं चतुर्गति का मार्ग भी खुल गया। उन चार हजार भ्रष्ट साधुओं में भरत चक्रवर्ती का पुत्र मारीचि भी था, जो बहुत-सी अच्छी-बुरी योनियों में भ्रमण करता हुआ अन्त में जाकर अंतिम तीर्थंकर महावीर हुआ।

छह माह बाद जब मुनिराज ऋषभदेव का ध्यान भग्न हुआ, तब वे

आहार के लिए निकले; किन्तु कर्मभूमि का आरंभ होने से कोई भी व्यक्ति मुनिराज को आहार देने की विधि नहीं जानता था।

लोग भोले-भाले सरल हृदय थे। जब उन्होंने देखा कि हमारे महाराजाधिराज ऋषभदेव आज विपन्नावस्था में है, न तो उनके पास वस्त्र हैं, न कोई सवारी; उनके पैरो में जूते तक नहीं हैं। अतः कोई तो उन्हें वस्त्र देने की कोशिश करने लगा, कोई सवारी के लिए हाथी-घोड़े भेंट में देने लगा और कोई जूते-चप्पल भेंट करने लगा।

बात तो यहाँ तक पहुँची कि कुछ लोग उन्हें कन्या प्रदान करने लगे, जिससे ऋषभदेव की उजड़ी गृहस्थी बस सके। आहार के बारे में या तो कोई सोचता ही नहीं था। यदि सोचता भी तो उन्हें आहारदान की विधि ज्ञात न होने से ऋषभदेव आहार लेते ही नहीं।

ऋषभदेव लगभग प्रतिदिन आहार के लिए निकलते, पर 7 माह 9 दिन तक ऐसा ही चलता रहा। 6 माह का उपवास और 7 माह 9 दिन तक आहार का न मिलना इसप्रकार 1 वर्ष 1 माह और 9 दिन तक ऋषभदेव निराहार ही रहे।

देखो, विधि की विडम्बना, जो स्वयं तीर्थंकर हो, जिसके जन्म-कल्याणक में इन्द्रों ने अतिशय सम्पन्न महोत्सव मनाया हो, जिसके गर्भ में आने के लिए पहिले ही देवियाँ माता की सेवा करने आ गई हों, जिसने सम्पूर्ण जगत को कर्मभूमि के आरंभ में सबप्रकार से शिक्षित किया हो; उसे दीक्षा लेने के बाद आहार का भी योग न मिला।

13 माह 9 दिन बाद हस्तिनापुर के राजा श्रेयांस को जाति-स्मरण हुआ, जिसमें उन्हें मुनियों को आहार देने की विधि का स्मरण हो आया।

जब ऋषभदेव का जीव राजा वज्रजंघ था और राजा श्रेयांस का जीव



वज्रजंघ की पत्नी श्रीमती था। उस समय उन दोनों ने मिलकर अपने ही युगल पुत्रों को, जो मुनिराज हो गये थे, आहार दिया था।

यह दृश्य उनकी स्मृति पटल पर आ गया। इससे उन्हें मुनिराजों को आहार देने की विधि पूर्णतः स्पष्ट हो गई और उन्होंने सर्वप्रथम मुनिराज ऋषभदेव को इक्षुरस का आहार दिया।

जिस दिन मुनिराज ऋषभदेव को सर्वप्रथम आहार मिला, वह दिन अक्षय तृतीया का शुभ दिन था। इसीकारण अक्षय तृतीया का महापर्व चल पड़ा। यही कारण है कि यदि ऋषभदेव को धर्मतीर्थ का प्रवर्तक माना जाता है तो राजा श्रेयांस को दानतीर्थ का प्रवर्तक।

यहाँ एक प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि राजा श्रेयांस को जातिस्मरण 7 माह पूर्व क्यों नहीं हो गया? यदि 7 माह पूर्व उन्हें जातिस्मरण हो जाता तो ऋषभदेव को इतने दिनों व्यर्थ ही निराहार न रहना पड़ता।

पर, भाई साहब क्या तुम इस बात को नहीं जानते कि समय के पहले और भाग्य से अधिक कभी किसी को कुछ नहीं मिलता। जब ऋषभदेव की आहार प्राप्ति की उपादानगत योग्यता पक गई तो आहार देनेवालों को भी जातिस्मरण हो गया।

इससे तो यही सिद्ध होता है कि जब अपनी अन्तर से तैयारी हो तो निमित्त तो हाजिर ही रहता है, पर जब हमारी पात्रता ही न पके तो निमित्त भी नहीं मिलते। उपादानगत योग्यता और निमित्तों का सहज ऐसा ही

संयोग है। अतः निमित्तों को दोष देना ठीक नहीं है, अपनी पात्रता का विचार करना ही कल्याणकारी है।

मुनिराज ऋषभदेव एक हजार वर्ष तक बराबर मौन आत्मसाधनारत अन्तर्बाह्य घोर तपश्चरण करते रहे। एक दिन आत्मलीनता की दशा में उन्हें केवलज्ञान (पूर्णज्ञान) की प्राप्ति हुई।

केवलज्ञान माने सर्वज्ञता, सम्पूर्ण ज्ञान, परिपूर्ण ज्ञान। सम्पूर्ण जगत में लोकालोक में जितने भी पदार्थ हैं, उन सभी को उनके सम्पूर्ण गुण और भूत, भविष्य एवं वर्तमान की समस्त पर्यायों सहित एक समय में बिना किसी की सहायता के, इन्द्रियों के बिना, सीधे आत्मा से प्रत्यक्ष जानना ही केवलज्ञान है।

केवलज्ञान सूक्ष्म, अन्तरित और दूरवर्ती सभी पदार्थों को हाथ पर रखे हुए आँवले के समान अत्यन्त स्पष्टरूप से जानता है।

सूक्ष्म माने दृष्टि से दूर, अन्तरित माने काल से दूर और दूरवर्ती माने क्षेत्र से दूर। परमाणु आदिक सूक्ष्म हैं, रामादिक काल से दूर होने से अन्तरित हैं और सुमेरु पर्वत आदि क्षेत्र से दूर होने से दूरवर्ती कहे जाते हैं। ये सूक्ष्म, अन्तरित और दूरवर्ती सभी पदार्थ केवलज्ञानदर्पण में समानरूप से प्रतिभासित होते हैं।

तात्पर्य यह है कि केवली भगवान पदार्थों को देखने-जानने के लिए उनके पास नहीं जाते और पदार्थ भी उनके पास नहीं आते; तथापि सभी पदार्थ बिना यत्न के ही प्रतिसमय उनके ज्ञानदर्पण में झलकते रहते हैं।

जिसप्रकार दर्पण भी पदार्थों के पास नहीं जाता और पदार्थ भी दर्पण के पास नहीं आते, फिर भी दर्पण में पदार्थ झलकते हैं; उसीप्रकार केवलज्ञान में लोकालोक के सभी पदार्थ झलकते हैं।

दर्पण में तो यह आवश्यक है कि जो पदार्थ उसके सामने होंगे, वे ही झलकेंगे; पर केवलज्ञान में ऐसी भी कोई आवश्यकता नहीं है। कोई पदार्थ कहीं भी क्यों न हो, वह अपनी भूत-भविष्य में होनेवाली समस्त पर्यायों सहित केवलज्ञान में झलकता है।

तात्पर्य यह है कि केवलज्ञान में क्षेत्र और काल बाधक नहीं होते, किसी भी प्रकार की पराधीनता नहीं होती, लोकालोक का ज्ञान प्रतिसमय सहजभाव से होता रहता है और केवलज्ञानी अपने में मग्न रहते हुए भी लोकालोक के सभी पदार्थों को सहजभाव से जानते-देखते रहते हैं।

पदार्थों के परिणमन से न वे प्रभावित होते हैं और न उनके जानने-देखने से पदार्थों का परिणमन ही प्रभावित होता है, सहज ही निर्लिप्त भाव से ज्ञाता-ज्ञेय संबंध बना रहता है।

यहाँ एक प्रश्न संभव है कि यदि केवली भगवान भविष्य की पर्यायों को भी जानते हैं तो फिर तो सम्पूर्ण भविष्य भी निश्चित होगा; क्योंकि यदि भविष्य निश्चित न हो तो उसे जानेंगे कैसे और उसके जानने का अर्थ भी क्या है ?

हाँ भाई, बात तो ऐसी ही है कि प्रत्येक पदार्थ का किस समय कैसा, क्या परिणमन होगा वह सब सुनिश्चित ही है और केवली भगवान उसे अत्यन्त स्पष्टरूप से जानते हैं। यदि ऐसा नहीं होता तो फिर भगवान ऋषभदेव ने यह कैसे बता दिया था कि यह मारीचि एक कोड़ाकोड़ी सागर के बाद इसी भरतक्षेत्र में महावीर नाम से चौबीसवाँ तीर्थंकर होगा।

एक कोड़ाकोड़ी सागर का काल बहुत लम्बा होता है। मारीचि और महावीर के भवों के बीच में असंख्य भव थे, वे सभी भगवान आदिनाथ के ज्ञान में झलक रहे थे, तभी तो उन्होंने यह सब बताया था।

इसीप्रकार की सुनिश्चित भविष्य संबंधी लाखों घोषणायें जिनवाणी में भरी पड़ी हैं, जो इस बात को सुनिश्चित करती हैं कि भविष्य एकदम

सुनिश्चित है, अघटित कुछ भी घटित नहीं होता। अनन्त केवली भगवान सभी के उस सुनिश्चित भविष्य को जानते हैं।

इस सन्दर्भ में विशेष जानकारी करना हो तो लेखक की अन्य कृति “क्रमबद्धपर्याय” का अध्ययन करना चाहिए, उसमें इस विषय का लगभग 150 पृष्ठों में अत्यन्त विशद स्पष्टीकरण है।

यह विषय बहुत दिलचस्प है, क्रान्तिकारी है, जीवन बदल देनेवाला है; अतः सभी को चाहिए कि वह ‘क्रमबद्धपर्याय’ नामक कृति को एक बार नहीं, अनेक बार पढ़ें और उसमें प्रतिपादित विषयवस्तु पर गहराई से मंथन करें, विचार करें, चिन्तन करें; आवश्यक प्रतीत हो तो विशेषज्ञों से भी उक्त प्रकरण पर विचार-विमर्श करें। जबतक किसी निर्णय पर न पहुँच जावें, विषय को छोड़े नहीं, उसकी तह तक पहुँचने का पूरा-पूरा पुरुषार्थ करें।

केवलज्ञान अर्थात् सर्वज्ञता का स्वरूप जानना अत्यन्त आवश्यक ही नहीं, अपितु अनिवार्य है; क्योंकि सर्वज्ञता धर्म का मूल है। सच्चे देव के स्वरूप में सर्वज्ञता शामिल है। जो वीतरागी, सर्वज्ञ और हितोपदेशी हो; वही सच्चा देव है वह ऐसा रत्नकरण्ड श्रावकाचार में आचार्य समन्तभद्र लिखते हैं। सर्वज्ञता को समझे बिना सच्चे देव-शास्त्र-गुरु को भी समझना संभव नहीं है और सच्चे देव-शास्त्र-गुरु के स्वरूप को समझे बिना व्यवहार सम्यग्दर्शन भी नहीं होता।

इसप्रकार यह सुनिश्चित है कि आत्मार्थियों को सर्वज्ञता का स्वरूप समझना अत्यन्त आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है।

सर्वज्ञता प्रगट होने के उपरान्त इन्द्र ने आकर उनकी धर्म-सभा (समवशरण) की व्यवस्था की। भरत के छोटे भाई वृषभसेन ऋषभदेव के मुख्य गणधर बने। उनकी पुत्रियों ब्राह्मी व सुन्दरी ने भी आर्यिका के व्रत ग्रहण कर लिए और गणिनी पद प्राप्त किया। वे चार हजार राजा जो

ऋषभदेव के साथ दीक्षित होकर फिर भ्रष्ट हो गये थे, उनमें से अधिकांश ने अपनी गलती सुधार कर भगवान ऋषभदेव से पुनः दीक्षा ग्रहण कर ली, किन्तु मारीचि ने कषायवश अपनी भूल न सुधारी और नया मत स्थापित कर भगवान ऋषभदेव का विरोध करने लगा।

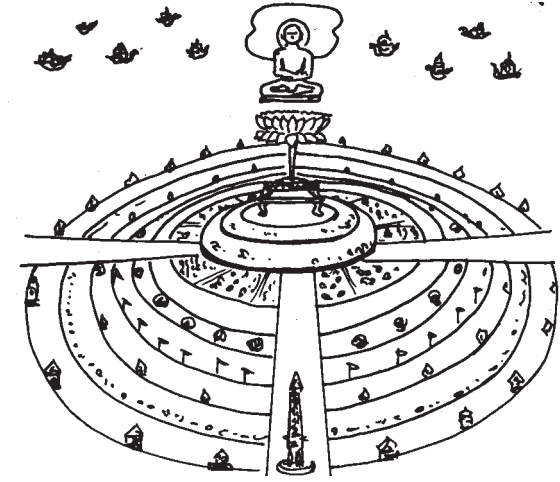
केवलज्ञान होने के बाद उनकी दिव्यध्वनि खिरी, जिससे मुक्ति के मार्ग का उद्घाटन हुआ।

तीर्थंकर की धर्मसभा को समोसरण कहते हैं। उसकी रचना सौधर्म इन्द्र के माध्यम से होती है। वह धर्मसभा हमारी धर्मसभा जैसी नहीं होती, अपितु गोलाकार होती है। बीच में भगवान विराजमान होते हैं और चारों ओर श्रोताजन बैठते हैं। उसमें चारों ओर सबकुछ मिलाकर 12 सभायें होती हैं, जिनमें मुनिराज, आर्यिका, श्रावक एवं श्राविकाओं के साथ-साथ देव-देवांगनाएँ तथा पशु-पक्षी भी प्रवचन सुनने के लिए श्रोताओं के रूप में बैठते हैं।

यद्यपि भगवान बीच में विराजमान होते हैं, तथापि चारों ओर बैठे लोगों में से किसी की ओर उनकी पीठ नहीं होती; सभी को ऐसा लगता है कि मानों भगवान का मुख उनकी ही ओर है। उनका मुख चारों ओर होने से उन्हें चतुर्मुख भी कहा जाता है।

यद्यपि उनके चार मुख नहीं होते, तथापि कुछ ऐसा अतिशय होता है कि उनका मुख चारों ओर बैठे लोगों को दिखाई देता है। इसप्रकार के अनेक अतिशय उनके समोसरण में देखने को मिलते हैं।

उक्त बारह सभाओं के अतिरिक्त समोसरण में बाग-बगीचे, नाट्य-शालाएँ-नृत्यशालाएँ आदि अनेक प्रकार की सुन्दरतम रचनाएँ होती हैं। यह जो आप समोसरण का दृश्य देख रहे हैं। यह उसका ही प्रतिरूप है।



भगवान की दिव्यध्वनि ओंकार स्वरूप एकाक्षरी होती है, जिसे अनक्षरी या निरक्षरी भी कहते हैं। यद्यपि उनकी ध्वनि निरक्षरी होती है; तथापि श्रोताओं के कान में पहुँचते-पहुँचते वह उनकी भाषा के रूप में परिणत हो जाती है। इसप्रकार उनके उपदेश को सब अपनी-अपनी भाषा में समझ लेते हैं। उनकी दिव्यध्वनि 18 महाभाषाओं और 700 लघु भाषाओं में परिणत हो जाती है।

देव-शास्त्र-गुरु पूजन की जयमाला में आता है ह

“दशअष्ट महाभाषा समेत, लघुभाषा सात शतक सुचेत।”

भगवान आदिनाथ के समोसरण में बीस हजार सीढ़ियाँ थीं और वह बारह योजन के विस्तार में बना था।

समोसरण की रचना के संदर्भ में लोगों के चित्त में एक प्रश्न बार-बार उभरता है कि वीतरागी भगवान की धर्मसभा में बाग-बगीचे क्यों, नाट्यशालाएँ-नृत्यशालाएँ क्यों? राग-रंग के स्थान क्यों, नाच-गाने क्यों? अनेक आकर्षक लुभावनी रचनाएँ क्यों?

इसीप्रकार वह समोसरण पाँच सौ योजन ऊपर क्यों बनाया जाता है;

जिससे वहाँ पहुँचने के लिए बीस हजार सीढ़ियों की आवश्यकता पड़ती है ? उनकी धर्मसभा तो समतल भूमि पर होना चाहिए; जिसमें रोगी, बाल, वृद्ध सभी आसानी से पहुँच सकें।

क्या आप जानते हैं कि बीस हजार सीढ़ियाँ का मतलब क्या होता है? इसका अर्थ यह हुआ कि समोसरण में जाना दो बार गिरनार की यात्रा करने के बराबर हो गया। यात्रा के लिए भी लोग डोलियों में जाते हैं। भगवान की वाणी सुनने के लिए जाने के लिए इतनी कष्टप्रद यात्रा क्यों ? धर्मश्रवण के लिए तो सरलतम सहज व्यवस्था होनी चाहिए।

इन बातों पर गंभीरता से विचार करने पर इस बात की ओर विशेष ध्यान जाता है कि इन्द्र जैसे समझदार व्यवस्थापक ने कुछ सोच-समझकर ही यह व्यवस्था की होगी।

मूलतः बात यह है कि जो जितना बड़ा वक्ता होता है; उसकी सभा में उतने ही अधिक श्रोता पहुँचते हैं। यदि वक्ता पुण्यशाली भी हुआ तो जनता उमड़ पड़ती है। जहाँ तीर्थकर जैसा पुण्यशाली प्रवक्ता हो, वहाँ तो कहना ही क्या है ?

ऐसी स्थिति में भीड़ को नियंत्रित करना एक समस्या तो होती ही है। सामान्य व्यवस्थापक भीड़ को नियंत्रित करने के लिए प्रवेश-पत्रों की व्यवस्था करते हैं, बिना प्रवेश-पत्र के लोगों को रोकने के लिए शक्ति का प्रयोग करते हैं। कुछ बनियाबुद्धि व्यवस्थापक टिकट लगा देते हैं, जिससे भीड़ भी कम हो जाती है और आर्थिक लाभ भी हो जाता है।

पर इन्द्र जैसे निर्लोभी, बुद्धिमान, विवेकी और समर्थ व्यवस्थापक के लिए यह सब संभव न था। वह तो यह चाहता था कि चाहे देव हो या दावन, चाहे निर्धन हो या धनिक, चाहे मनुष्य हो या पशु; पर जो तीव्र रुचि वाले हैं, निकट भव्य हैं, विषय-कषाय से विरक्त हैं और अप्रमादी

हैं; ऐसे लोग ही धर्मसभाओं में पहुँचना चाहिए, जिससे भगवान की वाणी का पूरा-पूरा सदुपयोग हो सके।

जब इन्द्र ने इतनी बड़ी धर्मसभा की व्यवस्था की तो वहाँ बैठने के स्थान की कोई समस्या नहीं थी; क्योंकि वे चाहते तो नाट्यशालाओं और बाग-बगीचों वाले स्थान को भी सभाभवन के रूप में व्यवस्थित कर सकते थे। पर मूल बात यह थी कि विषय-कषाय की रुचि वाले, दीर्घ संसारी, प्रमादी लोग वहाँ पहुँच कर स्वयं तो भगवान की वाणी मन लगाकर सुनते ही नहीं, दूसरों को भी न सुनने देते।

अतः उसने विषय-कषाय की रुचिवाले और प्रमादी लोगों को रोकने के लिए ही यह व्यवस्था की होगी।

प्रमादी लोग तो बीस हजार सीढ़ियों के नाम सुनकर ही हिम्मत हार देते होंगे, पर कुछ हट्टे-कट्टे लोग ऐसे भी होते हैं कि जो कुतूहल वश बीस हजार सीढ़ियाँ भी सहज ही पार कर लेते हैं। विषय-कषाय की रुचि वाले हट्टे-कट्टे लोगों को रोकने के लिए ही मानों बाग-बगीचों की रचना की जाती है। ऐसा होता भी है कि हजारों लोग प्रतिदिन भगवान की वाणी सुनने के संकल्प के साथ घर से निकलते हैं और मार्ग में आने वाले बाग-बगीचों में ही रम जाते हैं, नृत्य देखने में लगे रहते हैं और धर्मसभा तक पहुँच भी नहीं पाते।

धर्मसभा तक पहुँचनेवाले तो वे ही होते हैं कि न जिन्हें बाग-बगीचों में रस है और न नाच-गाने में। वे तो एकमात्र भगवान की वीतराग वाणी के रसिया होते हैं, जो यहाँ-वहाँ निगाह डाले बिना सीधे धर्मसभा की ओर उन्मुख रहते हैं और यथासमय पहुँच कर उनकी वाणी का पूरा-पूरा लाभ लेते हैं।

यह भी तो कहा जाता है कि समोसरण में पहली सीढ़ी पर कदम

रखते ही क्षण भर में अन्तिम सीढ़ी पर पहुँच जाने की व्यवस्था रहती है।

ऐसे सुयोग्य-सुपात्र श्रोताओं के सद्भाव का ही यह सुपरिणाम निकलता है कि जब भगवान की दिव्यध्वनि खिरती है तो वह निष्फल नहीं जाती, उसके प्रभाव से सैकड़ों लोग मुनिदीक्षा ग्रहण करते हैं; हजारों अणुव्रत लेते हैं और लाखों सम्यग्दर्शन की प्राप्ति करते हैं।

इसप्रकार के अनेक कथन शास्त्रों में आते हैं कि अमुक तीर्थकर की दिव्यध्वनि सुनकर इतने लोगों ने मुनिदीक्षा ली, इतने लोगों ने अणुव्रत धारण किए और इतने लोगों ने सम्यग्दर्शन की प्राप्ति की।

अतः यह सहज सिद्ध ही है कि समोसरण की रचना का जो स्वरूप है, वह सुविचारित और सुसंगत ही है।

उक्त संदर्भ में एक बात और विचारणीय है। जब कोई अध्यापक किसी कक्षा में पढ़ाने के लिए जाता है, तो उसके सामने जो छात्र होते हैं, उनका स्तर एकसा होता है। जैसे कोई अध्यापक दशवीं कक्षा को पढ़ाता है तो उसके सामने जो छात्र होते हैं, वे सभी नौवीं कक्षा पास होते हैं और कोई भी छात्र दशवीं कक्षा पास नहीं होता है। सभी छात्र उस भाषा को समझते हैं कि जिस भाषा में वह पढ़ाता है। अतः उसे पढ़ाने में भाषा और स्तर की कोई समस्या नहीं होती; किन्तु जब कोई वक्ता किसी सभा को सम्बोधित करता है तो उसके सामने जो श्रोता होते हैं, वे न तो सभी एक स्तर के होते हैं और न एक भाषा-भाषी ही होते हैं। यही कारण है कि उसे भाषा और स्तर की समस्या का सामना करना होता है।

वक्ता जितना बड़ा और जितना प्रभावशाली होगा, उसे सुननेवाले श्रोताओं के स्तर में उतना ही अधिक अन्तर होगा, भाषा संबंधी जटिलता भी उतनी ही अधिक होगी। जब देश का प्रधानमंत्री किसी सभा को संबोधित करता है या दूरदर्शन पर भाषण देता है तो उसके सामने जहाँ एक ओर अनेक भाषा-भाषी लोग बैठे होते हैं; वहीं विश्व के बड़े-बड़े नेता,

बड़े-बड़े प्रशासनिक अधिकारी, बड़े-बड़े राजनीतिज्ञ भी उसे सुनते हैं और बिना पढ़ी-लिखी ग्रामीण जनता भी सुनती है, जिसमें आदिवासी एवं वे महिलाएँ भी होती हैं कि जिनको काला अक्षर भैंस बराबर होता है। ऐसी स्थिति में उसे अपनी रीति-नीति स्पष्ट करनी होती है।

जब तीर्थकर जैसा प्रवक्ता होता है तो उसके सामने और भी अधिक विषमता होती है। जहाँ एक ओर गणधरदेव जैसे द्वादशांग के पाठी चार ज्ञान के धारी शुद्धोपयोगी सन्त होते हैं, द्वादशांग के पाठी सौधर्म इन्द्र जैसे देवगण होते हैं तो वहीं दूसरी ओर पशु-पक्षी भी उनकी धर्मसभा में देशना सुनने के लिए जातिगत वैर-विरोध छोड़कर शान्तभाव से बैठे होते हैं।

अतः स्तर और भाषा की जटिलतम समस्या तीर्थकर भगवान की धर्मसभा में भी होती है, जिसका समाधान उनका सातिशय पुण्य अनेक अतिशयों के माध्यम से करता है।

उनकी ओंकार ध्वनि (दिव्यध्वनि) श्रोताओं के कान में पहुँचते-पहुँचते श्रोताओं की भाषा में परिणत हो जाती है और उनके स्तर के अनुरूप भगवान की वाणी उनकी समझ में भी आ जाती है।

आज के वैज्ञानिक युग में इसप्रकार की व्यवस्था देश-विदेश की अनेक लोकसभाओं में हो गई है। अतः इन्द्र जैसे साधनसम्पन्न एवं वैज्ञानिक प्रज्ञा के धनी व्यक्ति के लिए इसप्रकार की सातिशय व्यवस्था असंभव नहीं लगती।

हँसने और रोने की भाषा भी एकाक्षरी ही होती है और उसे प्रत्येक भाषा-भाषी आसानी से समझ लेता है। कोई भी बालक माँ के पेट से किसी भाषा को सीखकर नहीं आता, पर वह अपनी ध्वनि के माध्यम से अपनी बात सब तक पहुँचाता ही है। यदि नग्न दिगम्बर वीतरागी सर्वज्ञ परमात्मा की एकाक्षरी ध्वनि में की गई बात भी जन-जन तक सहजभाव

से पहुँच जावे तो कौनसी आश्चर्य की बात है ?

समोसरण का समतल भूमि से ढाई कोस (पाँच हजार धनुष) ऊपर होने का एक कारण यह भी हो सकता है कि समतल भूमि पर इतनी लम्बी-चौड़ी भूमि का उपलब्ध होना भी सहज नहीं होता। यदि बहुत दूर जाकर जमीन मिल भी जाती तो फिर दूरी के कारण जन-जन का प्रतिदिन दिव्यध्वनि सुनना सहज संभव नहीं रहता।

एक बात यह भी तो है कि समतल भूमि पर समोसरण बनाने पर न जाने कितने पेड़-पौधे काटने पड़ते और सचित्त वनस्पति के साथ-साथ अनंत त्रस जीवों का भी घात होता। न मालूम कितने ग्राम उजाड़ने पड़ते ? ऊँचाई पर जाने से उक्त सभी समस्याओं का सहज ही समाधान हो गया।

नये-नये तीर्थ बनाने की होड़ में लगे लोगों को उक्त स्थिति पर गंभीरता से विचार करना चाहिए। यह तो हम सब जानते ही हैं कि कृत, कारित और अनुमोदना का फल समान ही होता है।

प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव की आयु 84 लाख पूर्व की थी। 83 लाख पूर्व तक तो वे घर में ही रहे और गृहस्थ धर्म का पालन करते रहे। 83 लाख पूर्व की उम्र में उन्होंने दिगम्बर दीक्षा ली और एक हजार वर्ष तक तप किया। इसप्रकार 83 लाख पूर्व और 1 हजार वर्ष की आयु में उन्हें केवलज्ञान की प्राप्ति हुई। उसके बाद 1 हजार वर्ष कम 1 लाख पूर्व तक प्रतिदिन दिन में तीन बार छह-छह घड़ी उनकी दिव्यध्वनि खिरती रही।

1 घड़ी 24 मिनट की होती है। इसप्रकार 7 घंटे और 12 मिनट प्रतिदिन उनकी दिव्यध्वनि खिरती थी; जिसमें दुखों से, विकारों से मुक्ति का मार्ग बताया जाता था; सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का स्वरूप समझाया जाता था; उस भगवान आत्मा का स्वरूप बताया जाता था कि जिसमें अपनापन स्थापित करने का नाम सम्यग्दर्शन है, जिसे निज

रूप जानने का नाम सम्यग्ज्ञान है और जिसमें जमने-रमने का नाम, जिसके ध्यान करने का नाम सम्यक्चारित्र है।

देहदेवल में विराजमान वह भगवान आत्मा स्त्री-पुत्रादि, कुटुम्ब परिवार से भिन्न है, देह से भिन्न है; अपने ही आत्मा में उत्पन्न मोह-राग-द्वेष भावों और सम्यग्दर्शनादि निर्मल पर्यायों से भी अन्य है, सभी पर्यायों से पार है और गुणभेद-प्रदेशभेद से भी पकड़ में आनेवाला नहीं है।

परमशुद्धनिश्चयनय का विषयभूत ज्ञायकभावस्वरूप परमात्मरूप वह निज परमात्मा ही एकमात्र श्रद्धेय है, ध्येय है और परमज्ञेय भी वही है। उसके श्रद्धान, ज्ञान और ध्यान से ही परमपद की प्राप्ति होती है।

मुख्यरूप से निज भगवान आत्मा स्वरूप बताने वाली जिनवाणी में सात तत्त्व, नव पदार्थ और छह द्रव्यादि का स्वरूप भी विस्तार से समझाया जाता है, जिसे जानकर भव्यजीव आत्मकल्याण के मार्ग पर अग्रसर हो सकते हैं।

अन्त में भगवान ऋषभदेव आयु की समाप्ति पर अन्तिम देह का भी परित्याग कर, कैलाश पर्वत से मोक्ष पधारे।

उपर्युक्त विश्लेषणोपरान्त प्रायः सभी के चित्त में यह एक प्रश्न स्वाभाविकरूप से ही उत्पन्न होता है कि क्या भगवान ऋषभदेव ने शादी की थी, क्या उनके पत्नियाँ थीं, क्या उन्होंने राज्य किया था, क्या कृषि आदि का उपदेश दिया था ?

क्या भगवान भी शादी करते हैं, राज्य करते हैं, कृषि आदि का उपदेश देते हैं, उनके भी बच्चे होते हैं ? यदि हाँ, तो फिर हममें और उनमें अन्तर ही क्या रहा ? हम जैसे ही वे हुए।

यद्यपि यह सत्य है कि भगवान की शादी कैसी ? पत्नियाँ कहाँ की ? उन्हें राज्य से क्या प्रयोजन ? कृषि आदि के उपदेश से भी क्या मतलब ?

क्योंकि भगवान तो पूर्ण वीतरागी होते हैं, वीतरागी के शादी-विवाह जैसी रागादि की विक्रियाएँ संभव नहीं हैं।

वस्तुतः बात यह है कि शादी तो राजकुमार ऋषभदेव की हुई थी, पत्नियाँ तो राजा ऋषभदेव की थीं, राज्य भी राजा ऋषभदेव ने किया था और कृषि आदि का उपदेश भी राजा ऋषभदेव का ही कार्य था, भगवान ऋषभदेव का नहीं।

यह तो हम सब जानते ही हैं कि वे जन्म से भगवान नहीं थे। जन्म से कोई भगवान नहीं होता। भगवान जन्मते नहीं, बनते हैं। भगवान तो वे बाद में बने, जब उन्होंने अपने को जीता। मोह-राग-द्वेष को जीतना ही अपने को जीतना है। भगवान तो उन्हें कहते हैं कि जो पूर्ण वीतरागी व सर्वज्ञ हों।

वे न तो जन्म से ही पूर्ण वीतरागी थे और न सर्वज्ञ ही। पूर्ण वीतरागता और सर्वज्ञता तो उन्होंने तब प्राप्त की जब वे स्त्री-पुत्रादि एवं राज्यादि परिग्रह एवं तत्संबंधी राग त्याग कर नग्न दिगम्बर साधु बने एवं अन्तर्निमग्न हो उन्होंने सम्पूर्ण राग-द्वेष और अल्पज्ञता का पूर्ण अभाव कर डाला।

अतः सर्वज्ञता और पूर्ण वीतरागता की प्राप्ति के पूर्व जहाँ भी उनके साथ 'भगवान' विशेषण का प्रयोग हो, उसे उपचरित कथन ही जानना चाहिए। भविष्य में भगवान बनेंगे, इस आधार पर ही वैसा कहा जाता है। कृषि आदि के उपदेश को भगवान का उपदेश कहना भी इसीप्रकार का कथन है। इस बात को समझने के लिए जैनदर्शन की कथन-पद्धति को समझना चाहिए।

यदि इस संदर्भ में विशेष जिज्ञासा हो तो पण्डित टोडरमलजी कृत मोक्षमार्गप्रकाशक के सातवें-आठवें अध्याय का स्वाध्याय करना चाहिए।

भरत और बाहुबली

राजा ऋषभदेव के 101 पुत्रों में भरत और बाहुबली जैनपुराणों के बहुचर्चित व्यक्तित्व हैं। भरत सबसे बड़े थे और वे भरत क्षेत्र के व इस युग के प्रथम चक्रवर्ती सम्राट थे। उनके ही नाम से इस देश का नाम 'भारत' पड़ा है। भागवत में इसका उल्लेख इसप्रकार है ह "महायोगी भरत ऋषभदेव के शत पुत्रों में ज्येष्ठ थे और उन्हीं से यह देश भारतवर्ष कहलाया।¹"

उक्त तथ्य को पुष्ट करनेवाले प्रभूत प्रमाण भारतीय प्राचीन साहित्य में उपलब्ध हैं।² इस संदर्भ में रामधारीसिंह 'दिनकर' ने लिखा है ह

"भरत ऋषभदेव के ही पुत्र थे, जिनके नाम पर हमारे देश का नाम भारत पड़ा।³"

महाराजा भरत ने चक्रप्रवर्तन के द्वारा, भरतक्षेत्र के सम्पूर्ण छह खण्डों को अपने आधीन किया और राजनीति का विस्तार कर अपने आश्रित राजाओं को राज्य-शासन की पद्धति सिखलाई। जहाँ एक ओर चक्रवर्ती सम्राट भरत राज्यावस्था में सर्व प्रकार सतर्क, सुयोग्य और सफल प्रशासक थे; वहीं वे योगियों में भी श्रेष्ठ प्रमाणित होते हैं, मुनि-दीक्षा लेने के दो घड़ी के भीतर पूर्ण वीतरागता और सर्वज्ञता प्राप्त कर लेते हैं।

महाबली बाहुबली भी महान योद्धा, भरत चक्रवर्ती से भी अविजित सर्वांग सुन्दर प्रथम कामदेव, महान तपस्वी योगिराज एवं भगवान ऋषभदेव से भी पहले मोक्षलक्ष्मी को वरण करनेवाले हुए हैं।

मुनि दीक्षा लेने के बाद वे आहारादि को निकले ही नहीं, ध्यान में

1. येषां खलु महार्योगी भरतो ज्येष्ठः श्रेष्ठगुणश्चासीत्।

येनेदं वर्षं भारतमिति व्यपदिशन्ति ॥ ह श्रीमद् भागवत, 5?4?90

2. (क) महापुराणः प्रस्तावना, पृष्ठ - 27-28 (ख) जै.मौ.इ.ती., पृष्ठ 61

3. संस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ 129

ऐसे मग्न हुए कि पूर्ण वीतरागता एवं सर्वज्ञता प्राप्त करने के पूर्व हिले भी नहीं, भले ही एक वर्ष लग गया। एक वर्ष तक ध्यानमुद्रा में ही खड़े रहे।

बेलों से लिपटी हुई उनकी विशाल 57 फुट उत्तुंग पाषाण प्रतिमा श्रवणबेलगोला (मैसूर) में स्थित है। उक्त पाषाण प्रतिमा भारत में इतनी लोकप्रिय है कि उसकी अनुकृति के रूप में लाखों प्रतिमाएँ समस्त भारतवर्ष के जिनालयों में स्थापित हो चुकी हैं और प्रतिवर्ष स्थापित की जाती हैं।



भरत को चक्ररत्न की प्राप्ति हुई और वे भरतक्षेत्र के छहों खण्ड जीतने को निकले। यद्यपि उनकी दिग्विजय यात्रा सकुशल सम्पन्न हुई; तथापि चक्ररत्न अयोध्या के द्वार पर ही रुक गया, उसने अयोध्या में प्रवेश नहीं किया। इसके कारणों की खोजबीन हुई तब पता चला कि चक्ररत्न सम्पूर्ण छह खण्ड को आधीन किए बिना अन्दर प्रवेश नहीं करता।

ऐसा कौन है, जिसने सम्राट भरत की आधीनता न मानी हो ?

चारों ओर दृष्टि घुमाने पर पता चला कि और तो कोई बाकी नहीं रहा, मात्र सम्राट के अनुजों को छोड़कर। सम्राट भरत की आधीनता स्वीकार करने के लिए समस्त भाइयों के पास राजदूत भेजे गये।

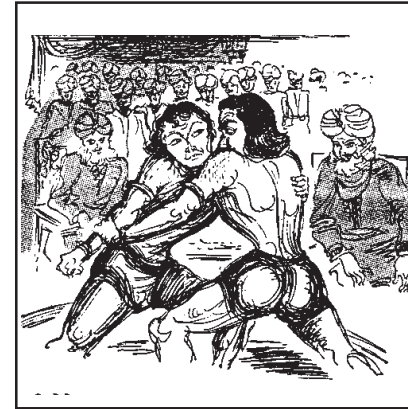
प्रायः सभी को सम्राट भरत का उक्त प्रस्ताव अनुचित लगा।

बाहुबली को छोड़कर अन्य सभी भाइयों को तो संसार की स्वार्थपरता

देख वैराग्य हो गया और उन्होंने जाकर ऋषभदेव के पास दिगम्बरी दीक्षा धारण कर ली; किन्तु बाहुबली ने दूत से कहा कि छोटा भाई बाहुबली बड़े भाई भरत के सामने झुक सकता है, पर राजा बाहुबली महाराजा भरत के सामने नहीं।

यदि उन्हें शक्ति का गर्व है तो मैं उसके परीक्षण के लिए तैयार हूँ।

फिर क्या था, थोड़े ही दिनों में दोनों ओर की सेनायें आमने-सामने थीं। दोनों के बुद्धिमान मंत्रियों ने समझाने का बहुत प्रयत्न किया। सफलता न मिलने पर उन्होंने परस्पर विचार किया कि ये दोनों ही महाबली



चरमशरीरी हैं, इनका तो कुछ बिगड़नेवाला नहीं है; क्यों व्यर्थ ही दोनों ओर की सेनाओं का रक्तपात किया जाय ?

दोनों ओर के मंत्रियों ने मिलकर उनसे विनम्रतापूर्वक आग्रह किया कि क्यों न आप दोनों ही अपना शक्ति परीक्षण कर लें,

व्यर्थ में ही सेनायें क्यों कटें ? दोनों को ही प्रस्ताव स्वीकृत हो गया और फिर तीन प्रकार की युद्ध प्रतियोगिताएँ निश्चित हुईं हृदययुद्ध, जलयुद्ध और मल्लयुद्ध।

बाहुबली शारीरिक दृष्टि से भरत से बलिष्ठ भी थे और उन्नतकाय भी। अतः वे तीनों ही युद्धों में अपराजेय रहे। पराजय का अपमान भरत सह न सके, वे क्रोधावेश में आ गये और उन्होंने मर्यादा का उल्लंघन कर बाहुबली पर चक्र चला दिया, फिर भी बाहुबली अक्षत एवं अपराजित



रहे; किन्तु यह देख बाहुबली को संसार, विषय और भोगों से सहज वैराग्य हो गया। उन्होंने सब कुछ त्याग कर दिगम्बरी दीक्षा स्वीकार कर ली। इसप्रकार महाराजा भरत हारकर भी चक्रवर्ती बन गए।

भूस्वामित्व को हार कर तो सभी को छोड़ना पड़ता है, पर बाहुबली ने इसे जीतकर छोड़ा था। जीतकर छोड़ देने में जो सौन्दर्य और निष्पृहता प्रस्फुटित होती है, वह हारकर छोड़ने में कहाँ दिखाई देती है?

बाहुबली का त्याग अप्राप्ति की मजबूरी नहीं, अपितु प्राप्ति का परित्याग था, विरक्तता का परिणाम था। बाहुबली की क्षमा 'मजबूरी में महात्मा गाँधी' का नाम नहीं थी, अपितु 'वीर का आभूषण' थी।

ऐसा त्यागी, ऐसा तपस्वी, ऐसा निस्पृही, ऐसा दृढ़संकल्पी व्यक्तित्व कि जिसमें पीछे मुड़कर देखना सीखा ही न हो, जब युद्ध में जमा तो जमा ही रहा और विजयश्री का वरण करके ही दम ली तथा जब अपने में जमा, अपने में रमा, तो ऐसा रमा कि बाहर की ओर देखा ही नहीं; कर्म-शत्रुओं का नाश कर अनन्तचतुष्टयरूप लक्ष्मी का वरण कर इस युग के आरंभ में

ही मुक्ति प्राप्त की। बाहुबली दिगम्बरत्व धारण कर जब अन्तर्मुख हुए तो फिर वे बाहर आये ही नहीं, कदाचित् उपयोग आत्मा से हटा भी तो फिर उसी में लगाने के अनन्त पुरुषार्थ में लग गये।

एक वर्ष तक लगातार वे या तो आत्मनिमग्नता की स्थिति में रहे या फिर उसे पुनः प्राप्त करने के सार्थक पुरुषार्थ में संलग्न रहे। दीक्षा के बाद भोजन ग्रहण करना, भोजन के लिए जाना तो बहुत दूर भोजन करने का विकल्प भी उन्हें छू नहीं सका। एक वर्ष तक ही क्यों, वे तो आज तक भी आत्मनिमग्न ही हैं। एक वर्ष तो उनकी साधना के उत्कर्ष का काल था, उसके बाद तो उनकी साधना सिद्ध हो गई, जो आज तक ही क्यों, अनन्त काल तक तद्रूप ही रहने वाली है।

यद्यपि भरत षट्खण्ड का राज्य करते हुए घर में ही रहे; तथापि उनका गार्हस्थ जीवन भी अपूर्व एवं अनुकरणीय था। उनके गार्हस्थ जीवन को लोक-जीवन में इसप्रकार गाया जाता है ह

वे तो अन्न-धन सब के त्यागी। भरतजी घर ही में बैरागी ॥टेक ॥

कोड़ अठारह तुरंग हैं जाके, कोड़ चौरासी पागी।

लाख चौरासी गजरथ सोहैं तो भी भये नहिं रागी ॥भरतजी ॥

तीन करोड़ गोकुल घर सोहैं, एक करोड़ हल साजी।

नव निधि रत्न चौदह घर जाके, मनवांछा सब भागी ॥भरतजी ॥

चार कोड़ मण नाज उठे नित, लोण लाक दश लागी।

कोड़ थाल कंचन-मणि सोहैं, नाहीं भया सोई रागी ॥भरतजी ॥

ज्यों जल बीच कमल अन्तःपुर, नाहिं भये वे रागी।

भविजन होय सोई उर धारो, सोई पुरुष बड़भागी ॥भरतजी ॥

महाराजा भरत घर में रहते हुए भी वैरागी थे। वे तो एक प्रकार से अनाज और धन-संपत्ति आदि सभी के त्यागी ही थे।

उनके घर में १८ करोड़ घोड़े, ८४ करोड़ पगड़ीधारी सैनिक, ८४ लाख गजरथ शोभित हो रहे थे; फिर भी वे रागी नहीं हुए; क्योंकि वे तो घर में ही वैरागियों के समान रहते थे।

उनके राज्य में ३ करोड़ गोधन और गोधन पालने वाले ग्वाले, १ करोड़ हल और हल जोतने वाले किसान थे और घर में ९ निधियाँ और १४ रत्न थे। फिर भी उनके मन की वांछा भाग गई थी।

उनकी भोजनशाला में प्रतिदिन ४ करोड़ मन अनाज लगता था और दश लाख मन नमक लगता था। १ करोड़ मणिजड़ित स्वर्ण थाले थे; फिर भी वे उनमें लीन नहीं हुए।

वे अपने अन्तःपुर में उसीप्रकार निर्लिप्त भाव से रहते थे कि जिसप्रकार जल के बीच में रहते हुए भी कमल जल को छूता भी नहीं है।

अरे भाई ! यदि भव्य हो तो उक्त स्थिति को हृदय में धारण करो, अच्छी तरह समझो। वह पुरुष बड़ा भाग्यवान है, जो इस बात को समझता है कि भरतजी घर में रहते हुए भी वैरागी ही थे। प्रत्येक सम्यग्दृष्टि की लगभग ऐसी ही स्थिति होती है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि आदि तीर्थकर भगवान ऋषभदेव और उनके पुत्र चक्रवर्ती भरत, कामदेव बाहुबली और प्रथम गणधर वृषभसेन ने युग की आदि में ही मुक्तिपथ का वरण किया और सिद्धदशा प्राप्त की।

